वीर संवत २४९२, माध कृष्ण २, सोमवार

दि.७-२-१९६६, गाथा १२, १३, प्रवचन नं.-१९

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। इसकी तीसरी ढाल चलती है। उसकी १२वीं गाथा है (और) १३ वीं आधी है। क्या कहते हैं ? पहले बात आ गयी है कि परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि। '**भला है,...**' आया है पहले। यह निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या की। निश्चय अर्थात् सच्चा-सत्यदर्शन। आत्मा परद्रव्य अर्थात् शरीर, कर्म, वाणी, पुण्य-पाप के विकल्प-रागादि से भिन्न आत्मतत्त्व है। ऐसे आत्मा की अन्तर में स्वभावसन्मुख की, अन्तर्मुखी अनुभवदृष्टि करना - इसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन (कहते हैं)। वहाँ से धर्म की प्रथम शरुआत होती है। वह मोक्षमहल की पहली सीड़ी है। आगे आयेगा न ? मोक्षमहल की पहली सीड़ी है। कुछ समझ में आया ?

आत्मा आनन्द ज्ञायक चैतन्यस्वरूप, उसकी शान्ति, उसमें - आत्मा में वतीरागता भरी है, उसे अन्तर दृष्टि में वीतराग दृष्टि द्वारा वस्तु के स्वरूप का नि:शंकरूप से अनुभव में प्रतीति करने का नाम सम्यग्दर्शन - निश्चय सत्यदर्शन कहा जाता है। उसके साथ व्यवहार समकित होता है। यह निश्चयसम्यग्दर्शन हो, वहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन शुभविकल्प-रागरूप होता है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा, यह श्रद्धा का भाव भेदवाला, रागवाला है; इस कारण इसे व्यवहार श्रद्धा कहा जाता है। निश्चयसम्यग्दर्शन आत्मा का भान, अनुभव-दृष्टि होवे तो उस व्यवहार समकित को उपचार से समकित कहा जाता है।

मुमुक्षु :- आगे-पीछे चलता है।

उत्तर :- आगे-पीछे की बात ही नहीं है। अआगे-पीछे क्या होता है ? इसीलिए तो इसमें पहली यह बात की और फिर यह बात करते हैं। शैली ऐसी ली है। पहली निश्चय और बाद में व्यवहार की बात ली है और फिर लिया मुख्य उपचार। पीछे है न श्लोक में ? मुख्य-उपचार।

वहाँ भी मुख्य अर्थात् निश्चय और उपचार अर्थात् व्यवहार, भाषा ऐसी ली है। समझ में आया ?

आत्मा अन्दर शान्त वीतरागी स्वभाव, उसे इस पुण्य-पाप के विकल्प से अथवा व्यवहार से भी आत्मा प्राप्त हो - ऐसा वह नहीं है। यह तो दोपहर में बहुत आया था। सूक्ष्म बात है, भाई ! यह अनन्त काल के जन्म-मरण के नाश का उपाय, उसकी सीडी - पहला ही सोपान उत्तम है। जिसके समकित बिना उसका ज्ञान और सभी क्रिया निरर्थक है।

मुमुक्षु :- दु:ख का कारण है।

उत्तर :- हाँ दु:ख का कारण कहा (है)। निरर्थक कहा परन्तु सार्थक है, दु:खरूप है। निरर्थक अर्थात् उसमें प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। व्यवहार शास्त्र का ज्ञान, व्यवहार नव तत्त्व की श्रद्धा, व्यवहार पंच महाव्रत के परिणाम - यह आत्मा के सम्यग्दर्शन के लिये बिलकुल कार्यगत नहीं है। समझ में आया ? परन्तु यह व्यवहार, निश्चय आत्मा का भान होने पर पूर्ण वीतराग न हो, वहाँ ऐसा व्यवहार आता है। उसकी मर्यादा में ऐसे शुभयोग की स्थिति होती है, उसे व्यवहार समकित कहते हैं; परन्तु यह व्यवहार समकित है, इससे निश्चय समकित है - ऐसा नहीं है तथा व्यवहार समकित है, उससे निश्चय उत्पन्न हुआ है - ऐसा नहीं है। वास्तव में व्यवहार समकित और व्यवहार श्रद्धा या व्यवहार ज्ञान या पंच महाव्रत के परिणाम - ये तीनों दु:खरूप हैं। जिसे व्यवहाररत्नत्रय कहते हैं, उसे दु:खरूप कहा है। आहा..हा... ! कल आया था। उससे आत्मा का कार्य बिलकुल नहीं है।

मुमुक्षु :- अज्ञानी को ऐसा है।

उत्तर :- ज्ञानी को भी ऐसा है। अज्ञानी को क्या, ज्ञानी को भी यह है। इससे आत्मा का कार्य नहीं होता।

निर्विकल्प निरपेक्ष भगवान आत्म ाका अन्तर में अनुभव, विकल्प के व्यवहार की अपेक्षा बिना की दृष्टि होती है, तब उसकी भूमिका में वह व्यवहार दु:खरूप मानता है, उसे यहाँ व्यवहाररत्नत्रय या निमित्तरूप कहा जाता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? कहो, भाई ! ऐसे व्यवहार समकित के आठ गुण हैं और उनमें उसके आठ दोषों का त्याग है।

पहला नि:शंक कहा, नि:शंक। जैन वचन में नि:शंक। स्वरूप की दृष्टि, अनुभव तो है।

सर्वज्ञ-कथित वीतराग मार्ग में व्यवहार में भी सम्यग्दृष्टि नि:शंक है, शंका नहीं। शुभविकल्प की मर्यादा में व्यवहार में उसे शंका नहीं है; महा अचल दृढ़ है।

नि:कांक्ष - समकित दृष्टि दूसरे को नहीं इच्छता। दूसरे धर्म के भाव को नहीं इच्छता। दूसरे धर्म में कुछ होगा - ऐसी कांक्षा उसे नहीं होती। इस व्यवहार समकित में इतनी अटल दृढ़ता होती है। निश्चयसम्यग्दर्शन हो, वहाँ की बात है, भाई ! आहा..हा...! नि:शंक और नि:कांक्ष (हुए)।

निर्विचिकित्सा - मुनियों का शरीर मलिन देखकर उसकी धृणा नहीं होती - ऐसा भाव। संतो के शरीर की अवस्था ही ऐसी होती है। समझ में आया ? महामुनि हों, शरीर काला हो, कुबड़ा हो, शीतला निकली हो, ... हों। समझ में आया ? आत्मा की दृष्टि, जिसे अन्तरदृष्टि सम्यक् हुआ है, उसे व्यवहार समकित में भी, ऐसे मुनि या धर्मात्मा धर्मी हों, दूसरे सम्यग्दृष्टि धर्मी हों, पुण्य कम हो, शरीर काला हो, कुबड़ा हो, .. निकले हों (और) स्वयं सुन्दर हो .. समझ में आया ? ऐसे दांत बाहर निकले हों, दाढ़ ऐसी हो, ऐसा निकला हो - ऐसा सब हो। आहा..हा...! उस (उसकी) धृणा नहीं होती। यह देह की स्थित हि। सम्यग्दृष्टि अपने साधर्मी जीव में समकिती जीव में भी ऐसा देखता है, उसका इसे तिरस्कार या धृणा नहीं होती। यह तो पाप के प्रकार हैं। पुण्य का प्रकार ऐसा हो। सम्यग्दृष्टि निश्चय में, व्यवहार सम्यग्दर्शन में धर्म को प्राप्त जीव के शरीर की अवस्था ऐसी हो, इसकी उसे धृणा नहीं होती। समझ में आया ? हम महारूपवान है, सुन्दर हैं, दूसरे से अधिक बड़े हैं और यह धर्मात्मा है, इसे पुण्य कम है, कुछ ठिकाना नहीं है - ऐसा उसे नहीं गिनता। समझ में आया ? यह तो व्यवहार सम्यग्दर्शन में (ऐसा जानात है) कि जो पुण्यबन्ध का कारण है, कि जो निश्चय अनुभव की दृष्टि होवे, वहाँ (ऐसा होता है)। समझ में आया ? आहा..हा...!

सच्चे और मिथ्या तत्त्वों की पहिचान में उलझता नहीं है। है न ? उलझन नहीं। सत्य तत्त्व है, सूक्ष्म में भी कही फर्क पड़े तो सम्यग्दृष्टि व्यवहार में उलझता नहीं। निश्चय में तो नहीं, व्यवहारमें भी उलझे नहीं - ऐसी उसके अन्तर में अमूढ़ता होती है। आहा..हा...! समझ में आया ? यह कैसे होगा ? ऐसा कुछ होगा ? इसमें कुछ मार्ग होगा, (ऐसा) उसे नहीं होता, उलझन नहीं होती। कोई अन्य के देव-गुरु-धर्म की प्रभावना वर्ते, बाहर में बहुत बहुमान वर्ते,

देव उसके पास आते हों (तो भी) शंका नही पड़ती। उसे मूढ़ता नहीं होती कि इसमें कुछ होगा ? धर्मात्मा के पास देव भी नहीं आते हैं। ... समझ में आया ? यह ऐसी बात है। धर्मी जीव के पास देव भी नहीं आते, अधर्मी के पास बाहर के पुण्य के कारण देव आते हों, उसकी बाहर में जोरदार प्रभावना दिखती हो, राजा-महाराजा (उसे) मानते हों - उसमें कोई तत्त्व होगा ? ऐसा शंकाशील नहीं होता। समझ में आया ? यह चार हुए। पाँचवां कहा था।

अपने गुणों को ढ़ाँके। आहा..हा... ! धर्मात्मा अपने गुणों को बाहर प्रसिद्ध करके पुकारता नहीं है। समझ में आया ? अपनी शक्ति का जो स्वभाव, भान हुआ, अनेक गुण प्रकट हुए हैं, उनकी प्रसिद्धि करूँ तो मुझे ठीक लगेगा - ऐसा भाव उसे नहीं होता। आहा..हा... ! समझ में आया ? गुणों को ढ़ाँकता है अथवा दूसरे के अवगुणों को (ढ़ाँकता है)। धार्मिक साधर्मी जीव होवे, उसमें कोई साधारण दोष आदि (देखे तो) व्यवहार में भी सम्यग्दृष्टि जीव के कोई ऐसा व्यवहार आदि अवगुण होवे तो ढ़ाँकता है, बाहर प्रसिद्ध नहीं करता है। देखो ! इसे ऐसा हुआ, ऐसा हुआ। समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि के तत्त्व की विपरीत बात करता है - यह कहीं दूसरे के अवगुण खोलने की बात नहीं है, यह तो तत्त्व से विरुद्ध है, उसके विरुद्ध तत्त्व की श्रद्धा की बात करता है। समझ में आया ? परन्तु धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि जीव का कोई साधारण प्रकृति का फर्क हो, अमुक हो, फिर भी भानवाला जीव है, ऐसों के व्यवहार समकिती जीव, निश्चयवाला ऐसे व्यवहार के अवगुण को ढ़ाँकता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? प्रकट नहीं करता। धर्म की निन्दा हो जाएगी। धर्मात्मा है, सम्यग्दृष्टि है, अनुभव है और व्यवहार के किसी परिणाम में सहज बाहर में अन्तर दिखे, शरीरादि की कोई चेष्ठा (ऐसी हो, उसे) ढ़ँकता है; लोक में धर्म की निन्दा होगी। समझ में आया ?

बापू ! जैनमार्ग तलवार की धार जैसा है, परनु तलवार की धार अर्थात् ? कठिन, ऐसा नहीं। यहाँ एक दृष्टान्त दिया है न ? रत्नकरण्डश्रावकाचार में तलवार और जल का दृष्टान्त दिया है। तलवार की धार का जल होता है न ? जल अर्थात् पानी पिलाया हो न ? तेज... तेज... चाहे जैसा प्रकार हो तो भी वह तेज बदलता नहीं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में यह दृष्टान्त दिया है। समझ में आया ? जैसे तलवार का पानी हो, अन्दर पानी पिलाया होवे न ? सूक्ष्मधार। वह किसी से घिसती नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का पानी - तेज व्यवहार में समकित में भी

किसी से नष्ट नहीं होता। समझ में आया ? अवगुण की प्रशंसा नहीं करता। दूसरे के, धर्मीजीव के, हाँ ! अज्ञानी की तत्त्व से विरुद्ध(ता) होवे तो यह बात स्पष्ट करे कि यह श्रद्धा मिथ्यात्व है, यह श्रद्धा अज्ञान है। उसे फिर छुपावे और कुछ न कहे तब तो उसकी बात कहने का अन्त नहीं आवे, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ? जिसकी दृष्टि ही मिथ्यात्व है और जिसका आचरण ही मिथ्या है - ऐसों की बात को स्पष्ट करे कि इसकी दृष्टि मिथ्या है, इसका मिथ्यात्वभाव है, श्रद्धाभाव विपरीत है; वीतराग मार्ग है, उसे मानता नहीं - यह तो स्पष्ट करे। धर्मी जीव, सम्यग्दृष्टि के व्यवहार में कोई अवगुण हो तो उसे ढँकता है। यह उपगूहन का (स्वरूप) कहा।

अब, '**अपने आत्मधर्म को बढ़ावे...**' एक में दो डाले हैं। उपबृहण। यह पाँचवां बोल है न, यह दो है। उपगुहन है और उपबृहण है। इसलिए यह कहा। अपने धर्म को बढ़ावे। अन्तर में अपनी आत्मा की शुद्धि को बढ़ावे। उपगूहन और उपबृहण दो शब्द हैं। अवगुण को ढाँकना और गुण की वृद्धि करना। एक लाईन में दो गुण डाल दिये हैं। भाई ! उपगूहन है और यह निजधर्म उपबृहण डाल दिया है, स्वयं ने डाल दिया है। मूल में ही पाठ है। अपनी शुद्धि में वृद्धि हो यह बात रखे, दुनिया के साथ काम नहीं है। दुनिया कैसे देखती है, कैसे मानती है ? - उसके साथ इसे काम नहीं है। समझ में आया ? '**निर्मल बनावे...**' उपगूहन है - ऐसा कहकर, उपबृहण डाल दिया। इसमें दो डाल दिये हैं।

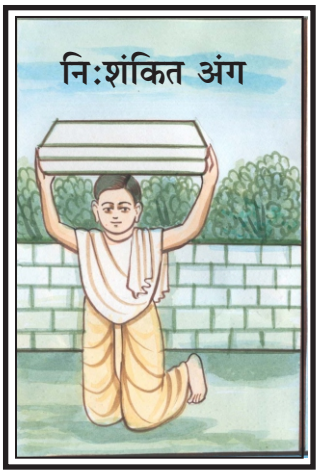

'**काम विकार आदि कारणों से धर्म से च्युत होते हुए...**' काम-विकार अर्थात् किसी प्रकार की इच्छा की तीव्रता में आ जाए, विषय-वासना का प्रकार आदि (आ जाए तो) उससे (धर्म से) च्युत नहीं होते; अपने को और पर को दृढ़ करें। इसमें दृष्टान्त दिया है। ऐसे दृष्टान्त हैं। नि:शंक में लकडहारे का दृष्टान्त दिया है। सिर पर भार भरा है। नि:कांक्षित में यह दिया है। यह शास्त्र रखे है, ठीक ! नि:शंकता अर्थात ? नि:कांक्ष - सर्प निकाला; सर्प के बदले यह निकाला लगता है, फुलमाला निकली है न भाई ने ? निर्विचिकित्सा में तो साधु

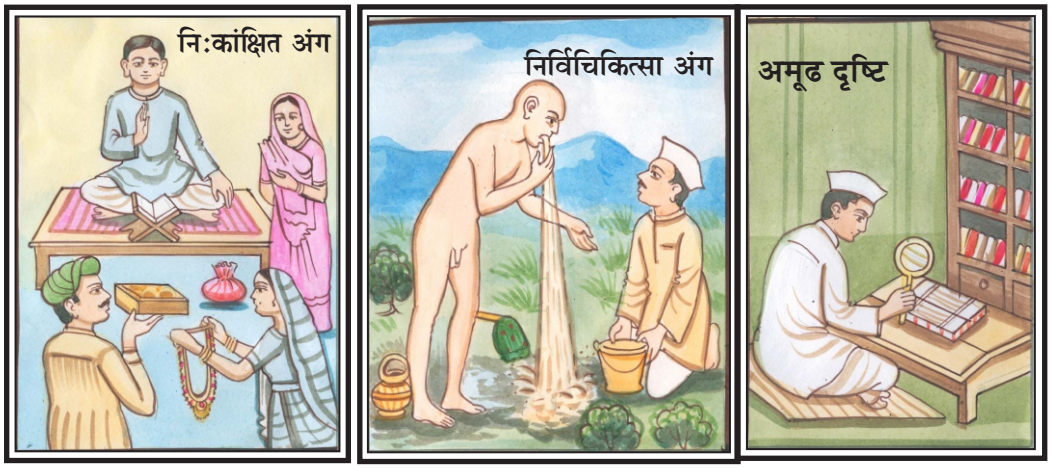

वमन करते हैं और समकिती देखता है, वह शान्ति रखता है और वहाँ तत्त्व की अमुढदृष्टि की है। यहाँ उपगूहन किया है। ढँकता है। कोई चोर हो, ऐसा धर्मी हो उसने किया हो तो उसे जाने दे, (माफ) करे। समझ में आया ?

कामादिक अर्थात् इच्छा आदि। कोई राग के लोभ की वृत्ति आदि हुई, स्वयं को भी उस प्रकार का हुआ, व्यवहार का हाँ ! निश्चय में तो भान सम्यक् निश्चय निर्विकल्प है। व्यवहार के विकल्प में स्वयं उसे जाने से रोके, अपने को स्थिर करे और पर को भी स्थिर करे। धर्मी जीव हो, उसे भी कोई अस्थिरता आदि की लोभादिक की वृत्ति का भाव आया हो तो उसे समझावे।

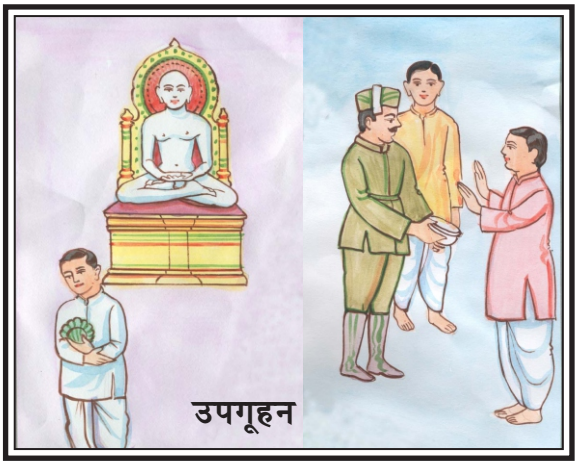

निश्चय सम्यग्दृष्टि है, उसे व्यवहार में ठिकाने लगावे - दृढ़ करे, वह स्थितिकरण अंग है।

'धर्मी सों गौ-वच्छ प्रीति सम...' देखो ! इसमें भी दृष्टान्त दिया है, हाँ ! देखो ! गाय और बछड़ा। सम्यग्दृष्टि जीव दूसरे सम्यग्दृष्टि जीव को, बछड़े के प्रति जैसे गाय को प्रेम होता है, ऐसा उसे

प्रेम होता है। समझ में आया ? द्वेष नहीं होता कि यह मुझसे बढ़ गया। मुझसे ऐसा हुआ, मेरे तो अमुक है और इसे तो अवधिज्ञान हो गया और यह तो महिमामण्डित हो जाएगा, दुनिया में कीर्ति बढ़ जाएगी। समझ में आया ? और मैं तो इससे पहले समकिती था। समझ में आया ? ऐसा उसे नहीं होता, प्रेम होता है। जैसे बछड़े के प्रति गाय को प्रेम है। गाय को बछड़े (के पास से) कुछ लेना है ?

मुमुक्षु :- ... पुत्र ...

उत्तर :- परन्तु पुत्र अर्थात् क्या ? पैर दबायेगा ? घास लायेगा ? पानी लायेगा ? बछड़ा क्या करेगा ? हें !

मुमुक्षु :- ... स्पर्धक ...

उत्तर :- स्पर्धक तो भी उसे क्या मदद करेगा ? वह मदद क्या करेगा ? फिर भी उसे (बछड़े) के प्रति प्रेम है। इसी तरह दूसरे धर्मात्मा जीव इस आत्मा को कुछ नहीं करते हों परन्तु उनके प्रति इसे प्रेम होता है। निश्चय का भान है, व्यवहार में कोई (दोषादि) हों तो भी उसका प्रेम है। जैसे, माँ को पुत्र के प्रति प्रेम है, वैसा प्रेम इसे होता है। साधर्मी को पारस्परिक प्रेम होता है आपस-आपस में द्वेष, ईर्ष्या नहीं होती। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पुत्र आज्ञाकारी होवे तो प्रेम होता है।

उत्तर :- माँ को प्रेम होता ही है। काट दिया। दो लड़कों का दृष्टान्त नहीं दिया था ? एक अपना पुत्र था, वह अधिक सौतन के पास रहता था। अब विवाद उत्पन्न हुआ। वह कहे कि मेरा लड़का.. यह कहे मेरा लड़का। कोर्ट में ले गये। कोर्ट में कहे - अब किसका करना ? जज ने हुकम दिया - करो दो टुकड़े, आधा-आधा दे दो। जिसका लड़का था, वह कहने लगी - रहने

दो, उसे मारना रहने दो - लगी अन्दर से। जज ने हुकम दिया कि इसे दे दो, इसका लड़का है। समझ में आया ? दूसरी थी, वह ऐसी की ऐसी खड़ी रही। (यह कहने लगी) - इसे मारना नहीं, उसे दे दो। समझ मे आया ? अन्दर में प्रेम है। अरे.. ! मेरा लड़का भले ही वह ले जाए परन्तु मारे नहीं, उसे मारना नहीं, हाँ ! आहा..हा... ! समझ में आया ? उसे प्रेम होता है। समझ में आया ?

इस प्रकार साधर्मी सम्यग्दृष्टि जीव के प्रति समकिती को गौ-वत्सल की तरह प्रेम होता है। समझ में आया ? यह क्या कहा ? '**अपने साधर्मीजनों से बछड़े पर गाय की प्रीति समान प्रेम रखना...**' यह वात्सल्य अंग है। ऐसा न बढ़ जाए कि मैं समकिती हूँ, यह भी समकिती है। मेरे पास पचास लाख की पूँजी है, मैं खुच करता हूँ, यह तो खर्च भी नहीं करता। स्त्री-स्त्री होती है, आदमी-आदमी होवे तो यह तो कुछ खर्च नहीं करता और यह अधिक गिना जाता है। ऐसा नहीं होता। एक बड़ा करोड़पति गृहस्थ होवे, दूसरा समकिती साधारण होवे। वह पचास लाख खर्च करता हो, यह खर्च न करता हो, बापा ! खर्च करने की क्रिया तो मन्दराग की है; इस कारण कहीं मैं अधिक हूँ और तुम कम हो - ऐसा नहीं है। ऐसा जानकर उसका प्रेम नहीं छोड़ता - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? (ऐसा) वात्सल्य अंग है।

'**जैनधर्म की शोभा में वृद्धि करना...**' प्रभावना करना। परन्तु आत्मा की निश्चय प्रभावना का भान है, निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है, उसके साथ ही यह बात है, हाँ ! अकेला मात्र शुभराग होवे तो पुण्य बाँधे, (उससे) आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता। समझ में आया ? आत्मा की निश्चय अनुभव-दृष्टि बिना ऐसे अकेले आठ बोल हो, उसे आत्मा का कुछ लाभ नहीं होता। राग मन्द हो तो कदाचित् मिथ्यादृष्टि सहित पुण्य बाँधता है, मिथ्यात्व सहित..। अन्दर रस तो उत्पन्न हुआ है, यह और यह और यह मीठास (पड़ी है)। मिथ्यात्व सहित पुण्य बाँधता है, उसमें आत्मा

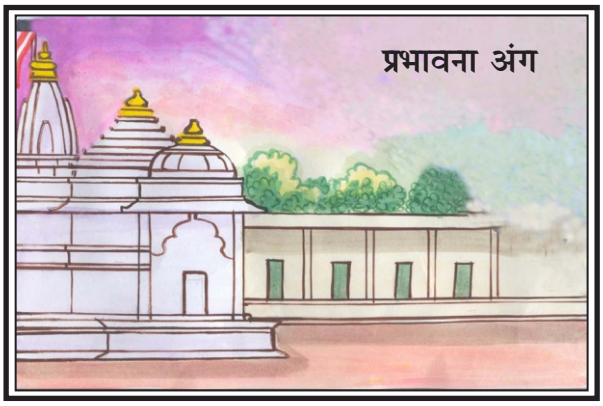

का कार्य जरा भी सिद्ध नहीं होता। समझ में आया ? यह तो निश्चय सम्यग्दृष्टिवन्त को ऐसा प्रभावना का व्यवहार होता है, भाव आता है तो भी समझता है कि शुभभाव से मुझे कुछ कार्य सिद्ध होता है – ऐसा नहीं है। मेरा कार्य शुभभाव से सिद्ध होता है – ऐसा नहीं है और मुझे शुभभाव आया, इसलिए मेरे भाव से दूसरे को कार्य सिद्ध होगा – ऐसा भी नहीं है। आहा..हा... ! भाई ! इतने अधिक पहलू हैं। सत्य के पक्ष में चढ़ना अलौकिक बात है, भाई !

गृहस्थ समकिती हो, करोड़पति हो तो दो लाख एकदम निकाल दे लो ! दूसरे से कहे – तुम चन्दा भरो तो कहे – हमारे पास पाँच रुपये हैं, पाँच रुपये, भाई ! उसकी अधिकाई नहीं दिखती इसे। उसका प्रेम है। आहा..हा... ! मेरा साधर्मी भाई है। बाहर के कम-ज्यादा आचरण पर उसका अप्रेम हो जाए या प्रेम घटे – ऐसा नहीं होता। आहा..हा... ! वीतराग मार्ग अन्तर दृष्टिपूर्वक उसके व्यवहार की कितनी उज्जवलता होती है – यह बात तो यथार्थ भान करे, उसे समझ में आये – ऐसा है। समझ में आया ? **'शोभा में वृद्धि करना।'**

'इन गुणों से उल्टे आठ दोष हैं...' इनसे उल्टे आठ दोष हैं। उन दोषों को सर्वथा दूर करना चाहिए। बस ! जैसे नि:शंक है तो शंका नहीं करना – ऐसे सामने आठ ले लेना। भावार्थ में साधारण कहा है, देखो !

'भावार्थ :- (१) तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है तथा अन्य प्रकार से नहीं है - इसप्रकार यथार्थ तत्त्वों में अचल श्रद्धा होना, सो नि:शंकित अंग कहलाता है। अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव भोगों को कभी भी आदरणीय नहीं मानते...' यहाँ अब नि:कांक्ष में लेना है। समझ में आया ? अव्रती सम्यग्दृष्टि कभी भी भोगों को आदरणीय नहीं मानते। कोई कहे कि सम्यग्दृष्टि है और यह छियानवें हज़ार स्त्रियों से विवाह करे, भोग करे तो उसे इसकी इच्छा होगी ? नहीं, नहीं, भाई ! इच्छा नहीं है, आदर नहीं है। सम्यग्दृष्टि (चक्रवर्ती) को छियानवें हजार अप्सरा जैसी स्त्रियाँ होती है, करोड़ों इन्द्राणियाँ होवे (तो भी) आदर नहीं है। अरे.. ! हमारा आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु, अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द का नाथ चैतन्य प्रभु के आनन्द के समक्ष जगत में आनन्द है कहाँ कहीं ? समझ में आया ? ऐसे आनन्द में जरा विकल्प उत्पन्न होता है, वह दु:ख लगता है, उसे आदर नहीं है, भोग का आदर नहीं है।

आहा..हा... !

'जिस प्रकार कोई बन्दी कारागृह में (इच्छा न होने पर भी) दु:ख सहन करता है...' करता है न बन्दी ? **'उसी प्रकार वे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता से गृहस्थाश्रम में रहते हैं, किन्तु रुचिपूर्वक भोगों की इच्छा नहीं करते; इसलिए उन्हें नि:शंकित और नि:कांक्षित अंग होने में कोई बाधा नहीं आती।'** ऐसा। कुछ होगा, इसमें कुछ होगा, भोग में कुछ सुख होगा ? यह भोग करते हैं, इसलिए इसमें कुछ सुख होगा ? समझ में आया ? ऐसा है नहीं। यह भोग करते हैं, इसलिए कुछ सुख मानते होंगे ? भोग करते हैं, भोग को प्राप्त करना चाहते हैं – इसलिए उन्हें कुछ उसकी इच्छा होगी ? नहीं, भाई ! आहा..हा... !

दो बातें की – यह भोग भोगते हैं तो सुख मानते होंगे न ? उसके बिना कोई भोगता है ? बिलकुल नहीं। (वे) नि:शंक है कि मेरा आनन्द मुझसे है। यह राग की वृत्ति आती है, हटती नहीं; हटती नहीं, इसलिए उपसर्ग की तरह उसे भोगते हैं – ऐसा दिखता है। वस्तुत: यह दु:ख लगता है। आहा..हा... ! इस इन्द्राणी के भोग के राग में ज्ञानी को दु:ख लगता है। मिथ्यादृष्टि छटपटाता है, कहीं प्राप्त करूँ, कुछ प्राप्त करुँ, कोई मान, कोई सम्मान, कुछ अधिकता, कुछ कीर्ति (प्राप्त करुँ – ऐसे छटपटाता है)। समझ में आया ? यह मिले हैं न ? तुम सुखबुद्धि बिना भोगते हो ? बापा ! यह बात रहने दे। समझ में आया ? कहते हैं कि शंका नहीं है कि उसमें सुखबुद्धि होगी या नहीं ? नहीं, सुख बुद्धि नहीं है; और भोगते हैं, इसलिए इच्छा होगी या नहीं ? आहा..हा... !

मुमुक्षु :– अज्ञानी को इच्छा रहती है ?

उत्तर : अज्ञानी को रहती ही है, उसमें सुखबुद्धि ही है। अन्दर सुखबुद्धि मिठास पड़ी ही है। वह प्रतिक्षण राग की मिठास में ही खिंचता है। समझ में आया ? चैतन्य आनन्दगोला है, उसका तो भान हुआ नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द तो दृष्टि में, प्रतीति में भान होकर आया नहीं है; इसलिए बाहर में से उसके छटपटाना हटता ही नहीं। मिठास... मिठास... दुनिया माने, दुनिया आदर करे, दुनिया बड़ा कहे, दुनिया में प्रसिद्ध होऊँ, दूसरों से कुछ ठीक गिना जाऊँ – ऐसी मिथ्यात्व की मिठास अन्दर पड़ी ही होती है। कहो, समझ में आया इसमें ? समकित अर्थात्

बापू ! ओहो..हो... ! सिद्ध का पुत्र हो गया। समझ में आया ?

कहते हैं, उसे शंका नहीं करना, उसे शंका नहीं कि यह भोगते हैं, इसलिए सुख होगा। नि:कांक्षित इच्छा भी (आयी), भोगने की इच्छा – एक वृत्ति आयी, इसलिए उसकी इच्छा है – ऐसा नहीं है। इच्छा की इच्छा नहीं है। भावना तो अन्तर अनाकुल आनन्द में है। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह धर्मी का खेल धर्मी ही जानता है। अज्ञानी–ऊपरीतौर से माननेवाले को उसका पता नहीं चलता। ऊपरीतौर से माननेवाला – देखनेवाला, उपर से देखनेवाला... उसे पता नहीं चलता कि उसका अन्दर हृदय क्या है ? समझ में आया ?

'धर्म सेवन करके उसके बदले में सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं करना...' इसमें डाला अवश्य, परन्तु विशेष दूसरा अलग किया। **'उसे नि:कांक्षित अंग कहते हैं।'** धर्म का सेवन करे – दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम करे, उससे कुछ संसार का – देव का सुख आदि (मिले – ऐसी वांछा नहीं होती) हैं ?

मुमुक्षु :– स्वर्ग में जाऊँगा।

उत्तर :– स्वर्ग में, धूल मे ंक्या है ? उसकी इच्छा नहीं होती, कांक्षा नहीं; कांक्षा छूट गयी। आहा..हा... ! अरे.. ! अतीन्द्रिय आनन्द की मिठास के स्वाद के समक्ष, आत्मा का अतीन्द्रिय सन्तोष, जिसकी स्वर्ग के इन्द्रों के पास गन्ध भी नहीं मिलती, उसके सुख में, हों ! समझ में आया ? यह (धर्म) सेवन के बदले में (सांसारिक सुख की) इच्छा नहीं करता। नि:कांक्षित.. नि:कांक्षित है। इसके एवज में न ले, एवज अर्थात् बदले में। एवज... एवज।

मुमुक्षु :– ...

उत्तर :– हाँ एवेज में रखे, कोई काम करे तो बदले में उसका हेतु दूसरा गहरा होता है। समझ में आया ? वह सम्यग्दृष्टि को नहीं होता है। उनको तो गहरा अभिप्राय ही उसमें अन्दर ऐसा होता है, बदले में कुछ प्रतिफल मिले, यह करूँ इसका कुछ प्रतिफल मिले, या वर्तमान में या लोक में या पैसे का, कीर्ति या परलोक में एवेज... एवेज... प्रतिफल, भाई ! आहा..हा... ! कुछ बोलते हैं, प्ररूपण करते हैं, कुछ दुनिया को कहते हैं, उसका कुछ प्रतिफल... प्रतिफल चाहिए या नहीं ? लोग अच्छा कहे, दुनिया में प्रसिद्ध होवे। (इस प्रकार) अज्ञानी को प्रतिफल

लेने की इच्छा मिटती नहीं है, ज्ञानी को बदले में कुछ लेने की इच्छा नहीं है। आहा..हा...! अद्भुत बात, भाई ! समझ में आया ?

'(३) मुनिराज अथवा अन्य किसी धर्मात्मा के शरीर को मैला देखकर धृणा नहीं करना, (उसे निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं।)'

'(४) सच्चे और झूठे तत्त्वों की परीक्षा करके मूढ़ताओं और अनायतनों में न फँसना...' अनायतन अर्थात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को (और उन्हें) माननेवालों में न फँसना, वह अमूढ़दृष्टि अंग है।

'(५) अपनी प्रशंसा करनेवाले गुणों तथा दूसरों की निन्दा करनेवाले दोषों को ढंकना और आत्मधर्म को बढ़ाना (निर्मल रखना-दूषित न होने देना), वह उपगूहन अंग है। उपगूहन का दूसरा नाम उपबृहण...' (है) उसमें वह आ गया। **'जिनागम में आता है। जिसमें आत्मधर्म की वृद्धि करने को भी उपगूहन कहा जाता है।'** उसमें पाठ में आ गया है, हाँ ! **'श्री अमृतचन्द्रसूरी ने अपने पुरुषार्थसिद्धियुपाय के २७ वें श्लोक में भी वही कहा है।'**

'(६) काम, क्रोध, लोभ इत्यादि किसी भी कारण से (समकित और चारित्र से) भ्रष्ट होते हुए अपने को तथा पर को पुनः उसमें स्थिर करना, वह स्थितिकरण अंग है।' समझ में आया ? यह उपगूहन की गाथा है, उसका अर्थ आ गया है। अपने स्वरूप में किंचित् रागादि विशेष हो जाते हो, उसे वापस हटाना। दूसरे जीव धर्मात्मा-धर्मी हों... देखो ! देखो ! इसमें तो किसी को उठाया है, ऊँचा (किया है)। स्थिति करे, स्थितिकरण। सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्दृष्टि जीव को... सम्यग्दृष्टि जीव को, हाँ ! उसमें कोई साधारण अस्थिरता होवे तो उसे स्थिर करे। समझ में आया ?

'(७) अपने साधर्मी पर, बछड़े से प्यार रखनेवाली गाय की भाँति निरपेक्ष प्रेम रखना, वह वात्सल्य अंग है।' प्रेम के बदले में कुछ लेना है (-ऐसा नहीं)। (हम) तुम्हें प्रेम करते हैं तो तुम भी

कभी किसी बुरे वक्त में काम आओगे या नहीं ? धूल में भी काम नहीं आता, व्यर्थ में मूढ़ मानता है। ऐसी अज्ञानी को कुछ करते समय गहरी अभिलाषा होती है कि इससे ऐसा होगा, इससे ऐसा मिलेगा। धर्मी निरपेक्ष प्रेम करके प्रेम करता है। प्रेम में कोई अपेक्षा नहीं होती। (कुछ) लेने की, कीर्ति की, बड़प्पन की, यह मुझे अच्छा कहे – ऐसी अपेक्षा उसे नहीं होती।

'**(८) अज्ञान-अन्धकार को हटाकर...**' प्रभावना की बात है न ? '**विद्या, बल आदि के द्वारा शास्त्र में कही हुई यग्य रीति से अपनी सामर्थ्य-अनुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रकट करना...**' समकिती-निश्चय सम्यग्दृष्टि की बात है। उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन में ऐसा विकल्प होता है, तो भी उसे वह बन्ध का कारण मानता है। आहा..हा...! अद्भुत बात, भाई ! उस विकल्प से मेरे स्व-आत्मा का कार्य होगा – ऐसा नहीं मानता। आहा..हा...!

मुमुक्षु :- सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि को स्थितिकरण कराता है, मिथ्यादृष्टि को.. ?

उत्तर :- मिथ्यादृष्टि स्थिर हुआ ही नहीं है, वहाँ क्या स्थिति करे ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो वस्तु समझावे, वह तो समझने का प्रसंग है, उसकी बात ली है। यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो जो धर्म समझा है, उससे अस्थिर होवे, उसे किसी व्यवहार में (अस्थिरता होती है), निश्चय में दृष्टि यथार्थ हैं, जरा सा फर्क होवे तो उसे स्थिर करता है। समझ में आया ? '**अपने सामर्थ्यानुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रकट करना, वह प्रभावना अंग कहलाता है।**' यह विकल्प, अकेला शुभविकल्प है। कितने ही लोग तो ऐसे व्यवहार को ही अकेला धर्म मानकर बैठे हैं। लो, यह (भाई) कहते हैं – बहुधा (ऐसा है)। इन्होंने तो बहुत देखा है और बहुत सुना है न ? बहुधा, इस निश्चय समकित के बिना ऐसे किसी साधारण व्यवहार से धर्म मानकर पड़े हैं। उन्हें तो आत्मा का किंचित् भी लाभ नहीं है। समझ में आया ? परंतु निश्चय सम्यग्दृष्टिवंत को भी ऐसे आठ प्रकार के विकल्प, शुभयोग होते हैं। समझ में आया ? उसे निमित्तरूप से कहा जाता है। अपने शुद्धस्वरूप में निमित्त है, परन्तु निमित्त है, इसलिए कार्य हुआ है – ऐसा नहीं है। मेरी शुद्धि में उनके कारण वृद्धि होगी – ऐसा नहीं है। आहा..हा...! अद्भुत बात भाई ! समझ में आया ?

'इन अंगो (गुणों) से विपरीत (१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा (४) मूढ़दृष्टि (५) अनुपगूहन, (६) अस्थितिकरण, (७) अवात्सल्य और (८) अप्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ दोष हैं, इन्हें सदा दूर करना चाहिए।'

लो, अब गाथा १३ का उत्तरार्द्ध।

छन्द १३ (उत्तरार्द्ध)

मद नामक आठ दोष

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तौ मद ठाने;
मद न रुपकौ मद न ज्ञानकौ, धन बलकौ मद मानै।।१३।।

छन्द १४ (पूर्वार्द्ध)

तपकौ मद न मद जु प्रभुताकौ, करै न सो निज जानै;
मद धारै तो यही दोष वसु समकितकौ मल ठानै।

अन्वयार्थ :- (जो जीव) (जो) यदि (पिता) पिता आदि पितृपक्ष के स्वजन (भूप) राजादि (होय) हों (तौ) तो (मद) अभिमान (न ठानै) नहीं करता (यदि) (मातुल) मामा आदि मातृपक्ष के स्वजन (नृप) राजादि (होय) हों तो (मद) अभिमान (न) नहीं करता; (ज्ञानकौ) विद्या का (मद न) अभिमान नहीं करता; (धनकौ) लक्ष्मी का (मद मानै) अभिमान नहीं करता; (बलकौ) शक्ति का (मद मानै) अभिमान नहीं करता; (तपकौ) तप का (मद न) अभिमान नहीं करता; (जु) और (प्रभुताकौ) ऐश्वर्य, बड़प्पन का (मद न करै) अभिमान नहीं करता (सो) वह (निज) अपने आत्मा को (जानै) जानता है। (यदि जीव उनका) (मद) अभिमान (धारै) रखता है तो (यही) ऊपर कहे हुए मद (वसु) आठ (दोष) दोषरूप होकर (समकितकौ) समकित को सम्यक्दर्शन को (मल) दूषित (ठानै) करते हैं।

भावार्थ :- पिता के गोत्र को कुल और माता के गोत्र को जाति कहते हैं। (१) पिता

आदि पितृपक्ष में राजादि प्रतापी पुरुष होने से (मैं राजकुमार हूँ आदि) अभिमान करना सो कुल-मद है। (२) मामा आदि मातृपक्ष में राजादि प्रतापी पुरुष होने का अभिमान करना सो जाति-मद है। (३) शारीरिक सौन्दर्य का मद करना सो रूप-मद है। (४) अपनी विद्या का अभिमान करना सो ज्ञान-मद है। (५) अपनी धन-सम्पत्ति का अभिमान करना सो धन-मद है। (६) अपनी शारीरिक शक्ति का गर्व करना सो बल-मद है। (७) अपने व्रत-उपवासादि तप का गर्व करना सो तप-मद है। (८) अपने बड़प्पन और आज्ञा का गर्व करना सो प्रभुता-मद है। कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप और प्रभुता यह आठ मद-दोष कहलाते हैं। जो जीव इन आठ का गर्व नहीं करता वही आत्मा का ज्ञान कर सकता है। यदि उनका गर्व करता है तो यह मद सम्यग्दर्शन के आठ दोष बनकर उसे दूषित करते हैं। (१३ उत्तरार्द्ध तथा १४ पूर्वार्द्ध)

मद नहीं करना, मद। सम्यग्दृष्टि, निश्चय सम्यग्दृष्टिवन्त (को) व्यवहार के विकल्प में भी ऐसे जाति, कुल आदि का मद नहीं होता।

छन्द १३ (उत्तरार्द्ध)

मद नामक आठ दोष

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तौ मद ठाने;
मद न रुपकौ मद न ज्ञानकौ, धन बलकौ मद मानै।।१३।।

छन्द १४ (पूर्वार्द्ध)

तपकौ मद न मद जु प्रभुताकौ, करै न सो निज जानै;
मद धारै तो यही दोष वसु समकितकौ मल ठानै।

'**यदि पिता आदि पितृपक्ष के लोग राजा आदि हों...**' अरबोंपति सेठ हों, उनका मैं पुत्र हूँ – इस प्रकार समकिती को पिता के कुल के पक्ष का मद नहीं होता। आहा..हा..! किसका मद ? बापू ! जहाँ पूर्णानन्द प्रभु दृष्टि में आया, वह पूर्ण प्रकट नहीं हुआ, तब तक नरम...

नरम... नरम... (होता है)। जहाँ मेरी परमात्म अवस्था पूर्ण है, वह प्रकट नहीं हुई, मैं किसका अभिमान करूँ ? समझ में आया ?

'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में तो लिया है कि सम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबन्धी का अभाव और मिथ्यात्व का नाश होकर (आत्मा का) अनुभव हुआ है, वह आत्मा को परमात्मा की अपेक्षा से - धर्मात्मा अधिक होने की अपेक्षा से अपने को तुच्छ मानता है। आहा..हा... ! कहाँ वह परमेश्वर अवस्था, कहाँ वह सन्तों का चारित्र-वीतरागी आनन्द की अवस्था (और) कहाँ मेरी अल्प अवस्था ! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाला पाँचवे - छठवेंवाले की अधिकता, शान्ति देखता है और केवली की पूर्ण शान्ति, वीतरागता देखता है। आहा..हा.. ! उसे-स्वयं को तुच्छ जानता है कि हम कहाँ हैं ? अरे.. ! यह बात कहाँ है ? दृष्टि में प्रभुता बसी होने पर भी, समकिती पर्याय में तुच्छपना मानता है। किस अपेक्षा से ? अरे.. ! कहाँ केवलज्ञान, कहाँ एक समय में अतीन्द्रिय आनन्द का उछाला ! पूर्ण अनन्त आनन्द का (उछाला) ! वह अवस्था कहाँ और यह कहाँ ! केवली का अतीन्द्रिय आनन्द का ढेर ज्ञान में देखता है न ! पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द ! किसका मद करे ? हमारे पिता... पिता ही तेरा नहीं है। पिता कैसा ? कर्म के निमित्त से शरीर और शरीर के निमित्त से पिता कहा है, वह आत्मा को नहीं हो सकता। उसका मद नहीं हो सकता। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- आप किस दुनिया की बात करते हो ?

उत्तर :- आत्मा की दुनिया की। यहाँ तो जरा एक भाई अच्छा होवे, वहाँ महिमागान करता है, स्त्री जरा अच्छी होवे तो हमारी बहु अमुक (है), हमारे भाई को (एक) हजार का वेतन है... परन्तु तुझे क्या है ? साथ न हो, देता न हो, लेना-देना (न हो), गौरव ले, अभिमान ले, बस ! अभिमान, अभिमान ले, बस ! हमारे साले की बहु ऐसी है, हमारे अमुक की बहु (ऐसी है)। जगत के जड़ के फल का अभिमान क्या ? कहते हैं - वह तो कर्म की सामग्री है। जिसे धर्म सामग्री का भान हुआ उसे कर्म-सामग्री का अभिमान क्या ? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

पिता बड़ा राजा आदि हो; (परन्तु) मद नहीं करता। लड़के का आता होगा या नहीं ?

भाई ! लड़के का। वह इसमें आ जाता है। लड़का बहुत अच्छा तैयार हुआ हो... ऐसा नहीं आता, उसका क्या कारण है ? लड़का और पिता अलग नहीं होते, पिता और सब शामिल होते हैं इसलिए इसमें (नहीं आया होगा) भाई ! बात समजाने के लिये तो सब आती है या नहीं ? ऐ...ई... ! कारण किबात ऐसी है कि पिता और पुत्र अलग नहीं पडते, इसलिये वह बात इसमें नहीं लेते। लड़का (आगे) बढ गया हो तो पिता को उसका मद होता है – यह बात इसमें नहीं लेते। समझ में आया ? यहाँ तो उसका पिता (लिया है)। ऐसे कुल में जन्म हुआ। अरे.. ! बापू ! किसका कुल ? कुल किसका ? यह तो कर्म की सामग्री का कुल है। समझ में आता है ? आहा..हा... !

आत्मा का कुल – तीर्थंकर की जाति का मार्गानुसारी आत्मा है। 'आनन्दघनजी' कहते हैं न ? हम तो तीर्थंकर के मार्गानुसारी हैं। समझ में आया ?

'धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगशुं, भंग मा पड़शो हो प्रीत जिनेश्वर,

बीजो मन मन्दिर आणु नहीं, ए हम कुलवट रीत जिनेश्वर,

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगशुं।'

धर्म जिनेश्वर। 'आनन्दघनजी' गाते हैं न ?

'धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगशु, भंग मा पड़शो रे नाथ प्रीत प्रभुजी,

बीजो मन मन्दिर आणु नहीं,'

प्रभु ! आप मार्गानुसारी धर्म, सर्वज्ञ तीर्थंकरने लिया उस मार्ग को हम नहीं छोड़ेंगे। **'बीजो मन मन्दिर आणु नहीं -'** समझे ? **'यह हम कुलवट रीत...'** यह तो हमारे चैतन्य के

कुल के वट की रीत है। तीर्थंकर का आत्मा जिस कुल का है, उस कुल के हम आत्मा हैं। आहा..हा...! समझ में आया ? वह तो हमारा कुल है। तीर्थंकर का कुल (हमारा कुल है)। भाई ! आहा..हा...! यह हम कुलवट रीत। हमारे कुल का वट, अब दूसरा आने नहीं देंगे, प्रभु ! हमारे स्वरूप के अतिरिक्त दूसरे की अधिकता धर्मी नहीं आने देता। पिता का अभिमान नहीं होता।

'**(मातुल) मामा...**' माँ बड़े ननिहाल की हुई हो, राजा की पुत्री हो, उसकी माँ अरबोंपति की पुत्री हो.. हमारी माँ आहा..हा...! अरे..! माँ तेरी कब थी ? समझ में आया ? मीठास लेने के लिए कहीं न कहीं अन्दर गहरा खिंचता है। मिथ्यादृष्टि को मीठास वेदन करनी है न ? हमारे मामा ऐसे... हमारे मामा ऐसे, हों ! उनकी बहिन हमारी माँ ! ओ..हो...! यह कर्म की सामग्री का अभिमान - मद समकिती को नहीं होता। आहा..हा...! समझ में आया ?

'**विद्या का (मद न) घमण्ड...**' कुछ पढ़ा हो, कुछ दूसरो से अधिक आता हो तो अन्दर से घमण्ड.. घमण्ड होता है। 'ओछु पात्र ने अदकुं भण्यों, वढकणी बहुए दीकरो जण्यो' -तुम्हारे यहाँ ऐसा आता है ? आता होगा, तुम्हें पता नहीं। दूसरे प्रकार से - चूल्हे में चारों ओर राख ही होती है - ऐसी कहावत आती ही होगी। कम पात्र हो और अधिक पढ़ा, उसकी माँ हो झगड़ालू और झगडालू और झगड़ालू माँ ने पुत्र पैदा किया; एक तो झगडालु का पुत्र, इसलिए जहाँ-तहाँ झगड़ा-झगड़ा करे, शरारत ही (करे) आहा..हा...! कहते हैं - कुछ पढ़ा हो (तो) बस ! ऐसा नहीं होता, धर्मात्मा का अनादर करता है, धर्मी का अनादर करता है। ऐ... तुम्हें नहीं

आता। समझ में आया ?

यह विद्या का मद ज्ञानी को नहीं होता। आहा..हा... ! चौदह-चौदह पूर्व प्रकट हुए हों, परन्तु कहाँ केवलज्ञान और कहाँ चौदह पूर्व ! यह तो अनन्तवें भाग का अंश है। समझ में आया ? जिन्हें अन्तर्मुहूर्त में चौदह पूर्व की लब्धि प्रकट होती है, तो भी केवलज्ञान के तो अनन्तवें भाग है। किसका विद्याभिमान करे ? कितनी पढ़ाई अब ? अभी की पढ़ाई तो क्या थी ? समझ में आया ? आहा..हा... ! विद्या का मद-घमण्ड... घमण्ड लिखा है न ? घमण्ड:. हम पढ़े हैं, हमे आता है, हमारे सामने कोई खड़ा नहीं रह सकता। घमंड नहीं होता। यह तो पिघला होता है, समकिती अन्दर स्थिर होता है। आहा..हा... !

'लक्ष्मी का अभिमान...' नहीं करता। अरबोंपति हो, बड़ा राजा (या) इन्द्र हो या बाहर का वैभव (हो), छह खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती... भरत चक्रवर्ती... हमारे अन्तर वैभव के समक्ष, यह जड़ का वैभव हमारा नहीं है, भाई ! आहा..हा... ! भरत को छह खण्ड का वैभव, हाँ ! समकिती घर में वैरागी। उदास... उदास... उदास... (है)। उसे - आत्मदृष्टि की सम्पत्ति के स्वामी को ऐसा लक्ष्मी का अभिमान नहीं होता। लाओ, हम बैठें, भरो, जो संख्या तुम भरो उससे मैं अधिक भरूँ। होता है या नहीं ? क्या है ?

मुमुक्षु :- पैसे का ज़ोर।

उत्तर :- पैसे का जोर या आत्मा का ज़ोर है ? उसमें जोर किसका लेना ? धूल का जोर ? आहा..हा... ! यह तो वीतराग मार्ग है, बापा ! पिघला कर पिघलाकर राग को पिघलाकर अन्दर स्थिर होना, यह मार्ग है। समझ में आया ? धन का मद - अभिमान।

'बल का मद...' शक्ति... शक्ति। शरीर की, हाँ ! हमारी शरीर शक्ति (ऐसी है कि) बैल को खड़ा रखते हैं - इतनी हमारी शक्ति है। मोटर को खड़ा रखूँ तो भी क्या है ? वह तो

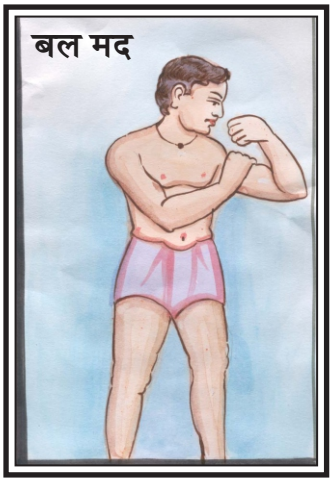

जड़ की - धूल की शक्ति है। समकिती को शारीरिक बल का अभिमान नहीं है। समझ में आया ? नेमिनाथ भगवान और श्रीकृष्ण के बीच चर्चा हुई थी। तब नेमिनाथ बोले थे, परन्तु वह अन्दर (अभिमान) नहीं था। आहा..हा... ! समझ में आया ? ज्ञानी का हृदय परखना बहुत कठिन है। परीक्षा में बैठे, सब राजा बैठे हुए, सब महिमा करने लगे। कोई कहे - इसका जोर... कोई कहे इसका जोर.. कोई कहे पाण्डवों का जोर.. कोई कहे वासुदेव का जोर.. वासुदेव के पिता का (जोर), बहुत गुणगान किये। एक व्यक्ति बोला कि देखो ! तीन ज्ञान के स्वामी भगवान बिराजमान हैं। वे तो बोलते नहीं एक तरफ बैठे हों, सब राजा बैठे हुए, नेमिनाथ तीन ज्ञान के स्वामी बैठे हुए। गृहस्थाश्रम में (थे)। तुम सब अन्य-अन्य कहते हो, परन्तु ये भगवान तीन ज्ञान के स्वामी हैं, ये सबसे बड़े हैं, सबसे बलवान हैं।

मुमुक्षु :- किसके ?

उत्तर :- शरीर का। यहाँ तो शरीर की बात है। आत्मा की बात कहाँ है ? उनका शारीरिक बल इतना था। समझ में आया ? तब फिर श्रीकृष्ण कहने लगे - हम (परीक्षा) कर लें। भाई ! तुम तो बड़े हो और तुम्हारे साथ कुछ हो ? पैर नीचे रखता हूँ, इसे जरा ऊँचा करो। भगवान तीन ज्ञान के स्वामी, क्षायिक समकिती नेमिनाथ प्रभु गृहस्थाश्रम में थे। यह सब बात चली है, तब कहते हैं - लाओ न, एक विकल्प ऐसा आया, बस ! यह सब इतने लोग एकत्रित (हुए है)। वह कहे कि उसका मान, पाण्डवों ने ऐसा किया, अमुक ने ऐसा किया, वासुदेव ने तो बहत्तर हजार स्त्रियों से विवाह किया। यह वासुदेव के पिता बहुत बड़े थे। सबके गुणगान करते-करते (बात करते थे)। फिर स्वयं इतना बोले, हम दोनों करते हैं, बड़े भाई तुम्हारे साथ मेरे नहीं होता। ओ..हो..हो... ! तुम बड़े कहलाते हो। अरे.. ! तीर्थंकर तीन लोक के नाथ, जिनके इन्द्र तलवे चाटे... बड़े (भाई) तुमसे हमें नहीं होता, हाँ ! आहा..हा... !

यह पैर नीचे रखा है। देखो ! यह सिंहासन है और पैर नीचे रखता हूँ, इसे जरा ऊँचा

करो। लिपटकर लटक गया तो भी पैर ऊँचा नहीं हुआ। अभिमान नहीं, हों ! ऐसी बाहर क्रिया हुई, इसलिए वहाँ ऐसा हुआ और वहाँ इच्छा है या आकांक्षा है – ऐसा नहीं है और बल बताना है – ऐसा नहीं है। एक प्रसंग ऐसा बन गया, एक विकल्प आ गया। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :– यह झुकाने की बात आयी।

उत्तर :– यह होनी थी, वह आयी। अन्दर में कुछ नहीं है।

मुमुक्षु :– अंगुली की बात नहीं आयी, पैर के अंगुठे की बात...

उत्तर :– अंगुली कहे तो भी वह है। समझ में आया ?

भरत चक्रवर्ती ने अंगुली की थी, लो न। भरत चक्रवर्ती का शारीरिक बल बहुत था; फिर रात्रि में घूमने निकले, उसमें कोई कहता है – यह भरत चक्रवर्ती अपनी सब प्रजा के कारण निभता (जिन्दा) है, अकेला क्या कर (सकता) था। इनका कितना बल ? भरत ने सुना, घर आये, सबको कहा कि भाई ! यह मेरी अंगुली टेडी हो गयी है, सीधी करो। सभी लगे, बड़े-बड़े योद्धा (इकट्ठे हुए), तब कहा तुम छियानवें करोड़ पैदल सैनिक एकत्रित होओ और एक सोने की लम्बी जंजीर बनाओ, उसे यहाँ लगाओ और छियानवें करोड़ (उसे) खींचो तो (अंगुली) सीधी होगी। छियानवें करोड़ सैनिक और इतनी लम्बी सोने की जंजीर खिंचे परन्तु (कुछ नहीं हुआ)। (फिर) स्वयं ने जरा ऐसे करके छोड़ दिया तो सभी धरती पर गिर पड़े ! अरे.. ! भगवान ! तुमने यह क्या किया ? कोई कहता था कि हमारा बल नहीं है, इस प्रधान और दीवान के बल से निभते (टिकते) हैं। बापू ! रहने दे, भाई ! ऐसा रहने दे, बापा ! हम कुदरत के पुरुष हैं, हम कुदरत के पुरुष हैं। कुदरत से हम बड़े होकर आये हैं और बड़े शरीर में है, उस कुदरत से हम है; तुम्हारे किये हुए नहीं। सबको कौन समझाये ? देखो ! बापा ! शरीर की ऐसी ताकत है, हाँ ! राग करते हैं – ऐसा बताया, वहाँ अन्दर इच्छा नहीं, हों ! सम्यग्दृष्टि हैं।

मुमुक्षु :– दृष्टान्त ऐसा देते हैं...

उत्तर :– इसीलिए तो यहाँ ऊपर कहा था। नि:कांक्ष में नहीं कहा था ? नि:शंक और नि:कांक्ष में कहा था कि भोग की इच्छा दिखने पर भी इच्छा नहीं है। भोग को प्राप्त करने की

इच्छा होती है तो भी अन्दर गहराई में प्राप्त करने की इच्छा नहीं है। इस गज के नाप बहुत कठिन है. समझ में आया ?

बल का - शक्ति का मद सम्यग्दृष्टि को नहीं होता। दूसरों के साथ क्या कहलाता है वह ? स्पर्धा...स्पर्धा... स्पर्धा... कहलाती है न ? स्पर्धा में खड़ा नहीं रहता कि हमारा बल है, देख लो ! यह वह किया तो भी अन्दर नहीं है, हों ! यह तो प्रसंग ऐसा बना। सभा भरी थी, हजारों राजा (बैठे थे)। नेमिनाथ भगवान तीन ज्ञान के स्वामी और शरीर छोटा; 'श्रीकृष्ण' आदि से छोटे थे। छोटे नहीं थे, वे बड़े थे। समझ में आया ? राजा का पुत्र छोटा नहीं कहलाता। साँप का छोटा बच्चा वह छोटा नहीं कहलाता फणिधर हो, क्या कहलाता है, वह साँप का बच्चा ? अभी एक बच्चा निकला था। निकला नहीं था अपने बाहर ? नहीं ? बाहर दरवाजे के पास था। ऐसे उस दिशा में जाकर आते थे। इतना बच्चा। किसी को मार डालेगा - ऐसे उछाले मारता था। एक कणबी कोई खड़ा था। वह छोटा बच्चा तो भी साँप का। समझ में आया ? इसी प्रकार धर्मात्मा भी केवली के पुत्र हैं, कहते हैं। उनके बाहर का बल भी पुण्य के कारण इतना होता है। समकित प्रकट हुआ, उसकी बात है, हों ! कहते हैं, इसका उसे अभिमान नहीं होता।

तप का अभिमान नहीं होता। देखो ! हम अष्टमी करते हैं, उपवास करते हैं, महीने-महीने के करते हैं और यह तो एक बार खाता है तो उ..उ.. हो जाता है। समझ में आया ? एक दिन में एक बार छोड़ना होवे तो छोड़ नहीं सकता और हम तो आठ-आठ दिन के (उपवास करते हैं)। यह अभिमान समकिती को नहीं होता। यह तो जड़ की क्रिया है और राग मन्द हो तो पुण्य है, उसका अभिमान क्या ? आहार नहीं हुआ, यह तो जड़ नहीं आया। उसे तप का मद नहीं होता।

एश्वर्य - बड़ापन - सेठपने का मद '**घमण्ड नहीं करता।**' समझ में आया ? परन्तु आत्मा के बडप्पन के आगे दूसरे का घमण्ड क्या ? धूल का... आहा..हा...! अपने आत्मा को पहिचानता है... लो ! वजन यहाँ आया। '**प्रभुताकौ मद न करे, निज जाने...**' आत्मा का ज्ञान करके आनन्द से जानता है। आहा..हा...! अन्तर में आनन्द की वीणा बजती है, उसे बाहर का अभिमान क्या ? बापू ! आहा..हा...! समझ में आया ? वह, अपने आत्मा को आनन्दमय है, उसे पहिचानता है। शुद्ध आनन्दमय, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप ही मैं हूँ - ऐसा पहिचानता है। इस कारण उसे आठ प्रकार का मद नहीं होता है।

'**यदि जीव उनका अभिमान रखता है तो ऊपर कहे हुए मद आठ दोष रूप होकर समकित-सम्यग्दर्शन को दोष करते हैं।**' लो ! यदि करे तो वह समकित में मैल है। समझ में आया ? इसलिए ज्ञानी ऐसा नहीं करते। (विशेष कहेंग) (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❁

पवित्र-वस्तु अपवित्र रूपसे परिणमित हो तो वह उसकी शोभा नहीं । वस्तु अकषाय स्वरूप है, उसका अकषाय-भावरूप परिणमित होना वही उसकी शोभा है । एकरूपता जिसमें है - ऐसी वस्तु रागादि रुप परिणमित हो तो वह विविध रूपता है, जिससे वह अशोभनीय है । चैतन्यका जो त्रिकाली स्वरूप है उसका विचार करें तो एकरूपता ही शोभनीय है। सुन्दर वस्तु है, सो सुन्दर रुपसे परिणमित हो तो ही शोभा है । सत्शाश्वत-ज्ञान और आनन्द-स्वरूप भगवान एकरुपकतामें रहे - वही उसकी शोभा है । (वस्तु) राग रहित निर्विकल्प स्वरुप है, अतः निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमय एकरुपता ही उसकी शोभा है । (परमागमसार-३५८)